भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परंपरा

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परम्परा

सम्पादक

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,

अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

प्रकाशक :
छवि पब्लिकेशन्स
अजमेर-305001
मो. 9660111549

संस्करण :
प्रथम 2023

ISBN : **978 - 81 - 89435 - 69 - 1**

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान धरोहर : विमर्श और परम्परा

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

2

भारत की ज्ञान परम्परा विशेषतः वेदों के संदर्भ में

डॉ. कल्पना महावर
विभागाध्यक्ष (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारत की ज्ञान-परंपरा दुनिया की सबसे प्राचीन और सतत् चलने वाली परंपराओं में से एक है। इसकी मूल जड़ें वेदों में मिलती हैं, विशेषकर ऋग्वेद में, जो उपलब्ध साहित्य में सर्वप्रथम है। समय के प्रवाह में यद्यपि अनेक परंपराएँ मंद पड़ी या आंशिक रूप से लुप्त हुईं, किंतु उनके बीज भारतीय स्मृति में सुरक्षित रहे। यही कारण है कि बाद के काल में उन परंपराओं का पुनर्जीवन संभव हुआ।

अथर्ववेद में यह उल्लेख मिलता है कि वेदों के बनने से पहले भी पुरानी कथाओं का चलन था—

ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषा सह'

अर्थात वेद-मंत्रों की रचना से पूर्व भी लोक में प्रचलित कथाएँ थीं। इन्हीं कथाओं पर आधारित होकर धीरे-धीरे पुराणों की विस्तृत रचना हुई।

भारत की परंपरा में धर्म और संस्कृति को अलग-अलग नहीं माना गया, बल्कि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। यहाँ धर्म का अर्थ 'मजहब' या 'रिलीजन' नहीं है, बल्कि वह सिद्धांत है जो व्यक्ति और समाज को धारण करे अर्थात् उनका आधार, नियामक और मार्गदर्शक बने।

धर्म का केंद्र कर्तव्य, सदाचार, आत्म-संतोष और विवेक पर है। आवश्यक नहीं कि किसी एक ग्रंथ या व्यक्ति को ही धर्म का अंतिम प्रवर्तक माना जाए। भारतीय परंपरा में धर्म की कसौटी यह रही है कि वह समाज का हित करे, विघटन पैदा न करे, और विवेक से परखा जाए।

जिससे समाज को अहित हो, वह धर्म नहीं, और उसी प्रकार वह संस्कृति भी नहीं मानी जा सकती। यहाँ संस्कृति का अर्थ है सत्य, संयम और कल्याणकारी आचरण, जो व्यक्ति और समाज दोनों के विकास में सहायक हो।

भारत की परंपरा का सबसे बड़ा आधार समन्वय है। यहाँ अनेकता में एकता देखने की दृष्टि विकसित की गई- विचार अनेक हो सकते हैं, मार्ग भिन्न हो सकते हैं, परंतु अंतिम लक्ष्य सत्य की खोज और मानव-कल्याण ही है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न रंगों के फूल मिलकर एक सुंदर गुलदस्ता बनाते हैं, उसी प्रकार विविध मत, दर्शन, और परंपराएँ मिलकर भारत की समृद्ध ज्ञान-परंपरा का निर्माण करती हैं।

भारतीय परंपरा में तर्क और बुद्धि को सदैव सर्वोच्च स्थान दिया गया है। धर्म का सार भी यही माना गया कि वह मनुष्य की विवेक-बुद्धि को संतुलित रखे और उसे सही दिशा प्रदान करें। जिस आचरण या विचार से बुद्धि का संतुलन बिगड़ जाए, उसे धर्म नहीं माना गया। इसलिए धर्म का मूल्यांकन देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप बुद्धि और विवेक के माध्यम से ही किया गया। किसी भी ग्रंथ का केवल वही हिस्सा प्रमाणिक माना जाता रहा, जो समकालीन परिस्थितियों में समाज की भलाई और मनुष्य के सदाचार का मार्ग प्रशस्त कर सके। यदि इन सिद्धांतों के अनुसार आचरण न हो, तो वेद जैसे महान ग्रंथ भी मनुष्य को पवित्र या श्रेष्ठ नहीं बना सकते। भारतीय वाङ्मय में स्पष्ट कहा गया— **'आचारहीनं न पुनंति वेदाः'**, अर्थात् आचरणहीन को वेद भी शुद्ध नहीं कर सकते। धर्म का उद्देश्य मनुष्य के चरित्र और आचरण को उच्च बनाना है, और संस्कृति भी इसी उद्देश्य का विस्तार मानी गई है। यदि कोई संस्कृति मनुष्य के सहज और स्वाभाविक विकास में सहायक नहीं, तो वह संस्कृति भी अधूरी समझी जाती है। गीता ने भी जीवन के आनंददायी पक्षों—काम और कलाओं—को तभी स्वीकार किया है जब वे धर्म के प्रतिकूल न हों। इस प्रकार धर्म और संस्कृति दोनों का आधार संयम, संतुलन और कल्याणकारी आचरण में निहित है।

भारतीय परंपरा को प्रायः अत्यधिक प्राचीनतावादी समझ लिया जाता है, पर वास्तव में इसकी एक विशेषता विचार-स्वातन्त्रय का सम्मान भी है। प्राचीनता का आग्रह अवश्य था, पर इसका अर्थ यह नहीं था कि जो कुछ अतीत में प्राप्त हुआ, वही पूर्ण और अपरिवर्तनीय है। भारत ने कभी भी परंपरा को जड़ रूप में स्वीकार नहीं किया। प्राचीन मान्यताओं को आदर देने का आशय यह था कि पुरातन ज्ञान को बिल्कुल त्यागना नहीं चाहिए, पर उसे विवेक की कसौटी पर कसते हुए समयानुकूल ढंग से समझना और अपनाना चाहिए। 'सनातन' शब्द का अर्थ ही यह माना गया कि जो सत्य है वह निरंतर नूतन होकर प्रकट होता रहे; उसमें जड़ता या स्थिरता के लिए कोई स्थान नहीं। स्मृतियों का अध्ययन स्पष्ट करता है कि वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, क्योंकि समय के साथ विधि-विधान, रीति-रिवाज और सामाजिक आवश्यकताएँ

बदलती रहीं। यह परिवर्तनशीलता उनके जीवित और गतिशील होने का प्रमाण थी।

इन सब परिवर्तनों के बावजूद कुछ सामान्य सिद्धांत ऐसे रहे जिन्हें धर्म का मूल लक्षण माना गया— जैसे सत्य, अहिंसा, शील, संयम, और समाज के हित में आचरण। वेदों ने जो सामान्य नियम निर्धारित किए थे, उन्हें समय के साथ नए विषयों, नई परिस्थितियों और नई समस्याओं पर लागू किया जाता रहा। यही भारतीय परंपरा की जीवंतता और उसकी विवेकशील दृष्टि का आधार है। धर्म, संस्कृति और परंपरा— ये तीनों भारत में कभी जड़ या कट्टर नहीं हुए; तर्क, बुद्धि और जीवन की व्यावहारिकता ने हमेशा इन्हें नवीनता प्रदान की। इसीलिए भारतीय ज्ञान-परंपरा युगों-युगों तक निरंतर बहती रही और आज भी स्वयं को समय के अनुरूप ढालने में समर्थ है।

भारतीय परंपरा को एक जीवंत वृक्ष की तरह समझा जा सकता है, जिसके पुराने पत्ते समय के साथ झड़ते रहते हैं, कई शाखाएँ कटती-छंटती हैं, पर उसकी जड़ें निरंतर प्राण-रस ग्रहण करती रहती हैं। इन्हीं जड़ों की शक्ति से नए पत्ते और नई शाखाएँ पुनः विकसित होती हैं। विवेकशील व्यक्ति झड़े हुए पत्तों पर मोह नहीं करता, किंतु मनुष्य कभी-कभी निष्प्राण और अर्थहीन रूढ़ियों को भी परंपरा में शामिल कर लेता है और उन्हें 'सनातन' मान बैठता है। वास्तव में मूल परंपरा वही है जिसका जीवन-रस समय के परिवर्तनों के बावजूद सूखता नहीं। डॉ. राधाकृष्णन ने इसी सत्य को रेखांकित किया है कि नियम और संस्थाएँ काल के साथ बदलती हैं, नष्ट होती हैं, पर धर्म किसी भी ऐतिहासिक रूप से बंधा नहीं होता; वह स्थायी रहता है।

वेद, रामायण, महाभारत, पुराण और प्रादेशिक साहित्य तत्कालीन समाज का सच्चा दर्पण हैं। इन ग्रंथों में जो आदर्श मिलते हैं, वे कल्पना से उत्पन्न नहीं, बल्कि समाज की वास्तविकता से संकलित थे। भारतीय परंपरा की मजबूत नींव इसी सुसंगठित अनुभव-सामग्री पर रखी गई थी, जिस कारण समय के अनेक आघातों के बावजूद यह परंपरा कायम रही।

भारतीय विचार में ज्ञान को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। ज्ञान केवल बाहरी सूचना नहीं, बल्कि तप, संयम और चिंतन से प्राप्त होने वाली अनुभूति है। कठोपनिषद् के नचिकेता ने भी मृत्यु-देव यम से केवल ज्ञान की ही याचना की थी। इसीलिए भारतीय परंपरा में ज्ञान को बेचा-खरीदा नहीं जा सकता; विद्या का व्यापार धर्म के विरुद्ध माना गया और '**स्मृतजीवी**' कहकर उसकी निंदा की गई।

गुरुकुल परंपरा में शिष्य की शिक्षा पूर्ण होने पर आचार्य द्वारा दी गई दीक्षा अत्यंत महत्वपूर्ण होती थी। यह केवल आशीर्वाद नहीं, बल्कि जीवन का मार्गदर्शन था— सत्य बोलना, धर्म का पालन करना, श्रद्धा से देना, नम्र बने रहना, और गुरु की

श्रेष्ठ बातों का अनुकरण करना। इस प्रकार भारतीय परंपरा का शुद्ध स्वरूप ज्ञान, सत्य, संयम और सदाचार पर आधारित एक जीवंत सांस्कृतिक धारा के रूप में प्रकट होता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में उल्लिखित आचार्य का दीक्षांत उपदेश भारतीय परंपरा की उस उच्च दृष्टि को प्रकट करता है, जिसमें शिष्य को 'शिवमार्ग' पर चलने के लिए पहले अपनी बुद्धि का विशुद्ध होना आवश्यक बताया गया है। इसी कारण ऋषि विश्वामित्र ने गायत्री मंत्र की रचना की— एक ऐसी प्रार्थना, जिसमें मानव-बुद्धि को तेजस्वी, पवित्र और कर्तव्य-पथ की ओर निरंतर प्रेरित करने का वर माँगा गया है। गायत्री भारतीय परंपरा का अत्यंत उज्ज्वल रूप है, पर उसका लक्ष्य केवल लाखों-जपों की संख्या नहीं, बल्कि उसके गहन अर्थ को आत्मसात करना है। निरुक्तकार यास्क ने स्पष्ट किया है कि जो व्यक्ति वेद या मंत्र का पाठ तो करता है, पर उसके अर्थ को नहीं समझता, वह एक बोझ से दबे ठूंठ के समान है— जैसे बिना आग के ईंधन नहीं जलता, वैसे ही अर्थहीन मंत्र-पाठ कभी फलदायीं नहीं होता।

भारतीय परंपरा में महान ज्ञानी भी अपनी बुद्धि पर संशय होने पर आलोचना हेतु स्वयं किसी अनुभवी विद्वान के पास जाते थे। उन्हें अपनी भूल सुधारने में आनंद मिलता था, क्योंकि जिज्ञासा और सत्य-खोज उनकी साधना का मूल आधार थी। इसी कारण ब्रह्मसूत्रों की शुरुआत 'अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासा' से और पूर्वमीमांसा की 'अर्थात् धर्म-जिज्ञासा' से होती है। जिज्ञासा के बिना न तो धर्म की गहराई में उतरना संभव है और न ही ब्रह्म को समझना।

भारतीय परंपरा ने यह भ्रम भी बार-बार मिटाया है कि आध्यात्मिक ज्ञान पर केवल संन्यासियों का अधिकार है। गृहस्थ भी उतने ही पात्र और समर्थ माने गए हैं। गृहस्थाश्रम को तीनों आश्रमों का आधार कहा गया है; वही जीवन को संतुलन, सहयोग और निरंतरता देता है। स्वधर्म का पालन करते हुए गृहस्थ भी परमपद को प्राप्त कर सकता है। भगवद्गीता में इसी सत्य को बड़ी गहराई से स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान, योग और मोक्ष किसी त्यागी का विशेषाधिकार नहीं, बल्कि प्रत्येक सज्जन के लिए खुले मार्ग हैं।

भारतीय परंपरा में भोजन को कभी अकेले खाने योग्य नहीं माना गया। वैदिक ऋषियों ने कहा कि जो अकेले खाता है, वह अन्न नहीं बल्कि पाप ग्रहण करता है। इसी उदार भावना से संयुक्त परिवार की परंपरा विकसित हुई, जिसमें 'भूमा' अर्थात् विशाल और उदार मन—को अमृत समझा गया। समय के प्रभाव से यह दृष्टि कुछ

कमजोर हुई, पर पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। भारतीय सोच का मूल वाक्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इसी उदारता का प्रतीक है।

भारतीय समाज में वचन-पालन को अत्यंत महत्त्व दिया गया। वचन को जीवन से भी बड़ा माना गया। लेन-देन, व्यापार और संबंध सब विश्वास पर चलते थे। यह परंपरा आज भी कहीं-कहीं बची है, पर बहुत कम दिखाई देती है।

एक और विशेषता यह रही कि जब भी कोई पुरानी व्यवस्था समाज के हित के विरुद्ध सिद्ध हुई, उसे तुरंत त्याग दिया गया। सड़ी-गली रूढ़ियों को बोझ समझकर हटाने की परंपरा रही। भारतीय संस्कृति कभी जड़ता की पक्षधर नहीं रही—'कर्म में कौशल' को ही योग माना गया।

परंतु समय के साथ कुछ रूढ़ियाँ, अंधविश्वास और अहितकारी धारणाएँ प्राचीनता के नाम पर टिक गईं। अज्ञान और अंधकार को परंपरा समझने की भूल भी होने लगी। इस स्थिति को सुधारने और प्राचीन स्वस्थ परंपरा को पुनर्जीवित करने का कार्य अनेक महान सुधारकों—राममोहन राय, दयानंद, विवेकानंद, अरविंद, गांधी और आज विनोबा ने किया। उनके प्रयास यह आशा जगाते हैं कि भारत की वास्तविक, जीवंत और उन्नतिशील परंपरा कभी पूर्णतः नष्ट नहीं होगी।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि भारतीय परंपरा मूलतः उदार, विवेकशील और परिवर्तनशील रही है। उसने भोजन, परिवार, वचन-पालन, सामाजिक आचरण और आध्यात्मिक जीवन—हर क्षेत्र में व्यापक दृष्टि अपनाई। परंपरा का उद्देश्य कभी जड़ता नहीं, बल्कि समयानुकूल सुधार और मानव हित था। जो व्यवस्था समाज के लिए हानिकर बनी, उसे त्याग दिया गया। 'वसुधैव कुटुम्बकम्', वचन-पालन, संयुक्तता और विवेक, ये उसके मुख्य स्तंभ रहे। बाद में संकीर्णता और अंधविश्वास से मूल परंपरा धूमिल हुई, पर महान सुधारकों ने उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इसीलिए भारतीय परंपरा का आधार अभी भी जीवित है और भविष्य में भी उज्ज्वल रहने की क्षमता रखता है।